प्रम्लोचा

प्रम्लोचा

अम्बाशंकर नागर

लोकभारती प्रकाशन

१५ ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद १

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित

◇

द्वितीय संस्करण २००१

◇

अम्बाशंकर नागर

◇

लेज़र-टाइपसेटिंग
प्रिंटेक इलाहाबाद १

◇

इण्डियन प्रेस प्रा० लिमिटेड
इलाहाबाद-१ द्वारा मुद्रित

लोकभारती
मूल्य [illegible]

भूमिका

अपने काव्य की भूमिका आप लिखना, आत्मविज्ञापन के जैसा अकरणीय कृत्य है। अनिच्छापूर्वक ही सही करते सभी हैं और मैं भी कर रहा हूँ। यह बताना आवश्यक है कि मैंने यह काव्य क्यो, कैसे और किसलिए लिखा।

गुजरात मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज करते समय कडुकोपाख्यान के कुछ श्लोक दृष्टिपथ मे आये। इन श्लोको मे महर्षि कडु और प्रम्लोचा नाम की अप्सरा की कथा थी। मेनका, उर्वशी, रम्भा, तिलोत्तमा आदि अप्सराओ के नाम तो सुने थे किन्तु प्रम्लोचा नाम नया था, इसलिए इस सबध मे अधिक जानने की जिज्ञासा हुई। छानबीन करने पर पता चला कि यह आख्यान ब्रह्मपुराण विष्णुपुराण आदि मे भी वर्णित है। ब्रह्मपुराण के द्वितीय खड मे, १७८वे अध्याय मे, गोदावरी नदी के तटवर्ती पुरुषोत्तम क्षेत्र के माहात्य का वर्णन करते हुए ब्रह्म ने मुनिशार्दूल कडु के उग्र तप का, तप से भयभीत होकर इन्द्र के द्वारा प्रम्लोचा नाम की अप्सरा को भेजने का और महर्षि कडु के उस पर मोहित होने तथा दीर्घकाल तक मोहासक्त रहने का वर्णन किया है। एक दिन सूर्य को अस्तमित होते देखकर महर्षि कडु सहसा मोहनिद्रा से जाग उठे। जागने पर उन्हे बड़ी आत्मग्लानि हुई। उन्होंने गोदावरी नदी के तटवर्ती पुरुषोत्तम क्षेत्र मे आकर उर्ध्वबाहु होकर पुन घोर तप किया और मोक्ष के भागी बने।

विष्णुपुराण मे, प्रथम अश के १५वे अध्याय मे कडु प्रम्लोचा की कथा प्रचेता मारिषा प्रसग म वणित है। प्रचेताआ न कडु-प्रम्लाचा की कन्या मारिषा से विवाह किया। जिससे आगे चलकर दक्ष प्रजापति का जन्म हुआ जिनसे मैथुनी सृष्टि का विकास हुआ। अन्य पुराणो मे भी कथा प्राय यही है, केवल कडु की मोहनिद्रा की अवधि नौ सौ सात वर्ष छह महीने और तीन दिन से बढ़कर आठ सहस्र वर्ष तक प्रलवित कर दी गई है।

इस पुराणकथा के प्रति मेरे आकर्षण का केन्द्रबिन्दु महर्षि कडु के प्रत्यभिज्ञान का वह क्षण है जब वे मोहनिद्रा से सहसा जागे। जागने पर उनको सहस्रो वर्षों का समय चार प्रहर से भी कम प्रतीत हुआ। पौराणिक आख्यान का प्रतिपाद्य भले वैष्णवभक्ति और पुरुषोत्तम क्षेत्र का माहात्य दिखाना रहा हो, प्रस्तुत काव्य का हेतु मानव म निहित सस्कारा की सर्वोपरिता दिखाना है। सस्कार ही मनुष्य का महान बनाने है। प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी सस्कारो के धधकने अगारे कजला भले ही जाये, बुझते कभी नही। फूँक मारते ही वे पुन प्रज्ज्वलित हो उठते है। सस्कारोदय का यह क्षण ही नर को नारायण बनाता है।

पुराणों मे ऐसी अनेक कथाएँ हैं, जिनमें कभी तो सैकड़ो वर्षों का समय मनुष्य को क्षणार्ध-सा लगता है और कभी निमिषमात्र मे वह अनेक जन्म-जन्मातर जी लेता है। पुराणो मे काशी के गाधि ब्राह्मण की एक ऐसी ही कथा है। वह गगा स्नान के लिए गया, तट पर उसने खड़ाऊँ, कपड़े रखे और गगा मे डुबकी लगाई। डुबकी लगाकर बाहर निकलने जितने स्वल्प समय मे उसने तीन जन्म जी लिए। पानी से बाहर निकलकर उसने देखा तो वस्त्र और खड़ाऊँ यथास्थान, यथावत पड़े थे।

हमारे देश मे ही नहीं विदेशो मे भी ऐसी अनेक लोक कथाएँ प्रचलित हैं जिनमें कालगति के द्रुतगामी अथवा विलबित हो जाने का वर्णन है। अमेरिका मे 'लैड ऑव दी एवर यग' के बारे मे प्रचलित 'ओइसिन-नाइव' की प्रम्लोचा के जैसी ही एक प्रेम-कथा मेरे दृष्टिपथ मे आई है। इन विश्वव्यापी आख्यानो मे निहित दिक्काल विषयक अवबोध ने ही मुझे इस काव्य को लिखने के लिए उत्प्रेरित किया है।

अन्त मे यह स्पष्ट कर देना भी उचित होगा कि यद्यपि इस काव्य की प्रेरणा का आधार पौराणिक उपाख्यान है, तथापि जो लोग पुराणो मे वर्णित तथ्यो को ही इसमे ढूँढने का प्रयास करेंगे उन्हे निराश होना पड़ेगा। क्योंकि पात्र और स्थानों के नामा को छोड़कर इसम कुछ भी पौराणिक नहीं है। मिथक अवश्य पौराणिक है, किन्तु उसे भी इस काव्य मे युगीन अर्थवत्ता और आधुनिक भगिमा के साथ प्रस्तुत किया गया है। इतना ही नहीं कहीं-कहीं तो पौराणिक मान्यताओ को नकारा गया है। उदाहरणार्थ आक्रोश मे आकर जब महर्षि कडु नारी को नर के पतन का कारण बताते है और नारी की भर्त्सना करते है तब पौराणिक प्रम्लोचा नतमस्तक सब सुनती है, स्वीकारती है और शाप के भय से वह थर-थर कॉपने लगती है। उसका उदरस्थ गर्भ विगलित होकर प्रस्वेद रूप मे पादपो पर चू पड़ता है जिससे मारिषा नाम की कन्या का जन्म होता है। किन्तु प्रस्तुत काव्य की चरितनायिका प्रम्लोचा' नारी गौरव से मडित एक स्वाभिमानी एव आजस्वी नारी है। वह निर्भीक होकर महर्षि के आक्षेपो का खडन करती है और धर्मार्थ काम सममेत्सेव्य' का उपदेश देकर उनकी काम एव प्रेम विषयक आत्मग्लानि को दूर करती है। पुराणो मे महर्षि कडु अभिज्ञान के पश्चात् पुन मोक्षप्राप्ति के लिए पुरुषोत्तम क्षेत्र मे जाकर ऊर्ध्व बाहु होकर ब्रह्मपार मत्र का जाप करते हुए उग्र तप करते है। किन्तु यहाँ वे व्यष्टि साधना को छोड़कर समष्टि साधना मे प्रवृत्त होते हैं और भावी सृष्टि के प्रवर्तक ओर राष्ट्र के अधिनायक बनते हैं। इस प्रकार यह काव्य पौराणिक होते हुए भी पौराणिक नही है और आधुनिक न हाते हुए भी आधुनिक है।

जिन गुरुजनो मित्रो ने इस कृति को प्रकाशन से पूर्व सुना सराहा और इसके सबध मे सुझाव दिये उनका मैं आभारी हूँ। भारतीय शिल्प के जिन रेखाचित्रो स यह कृति सुशोभित है वे गुजरात के प्रख्यात चित्रकार स्व० जगन्नाथ अहिवागी की अमर तूलिका की अनुकृति हैं। इस अवसर पर मैं उनका श्रद्धासह स्मरण करता हूँ।

इस पुस्तक की प्रस्तावना भारत भारती पुरस्कार विजेता डॉ० कुँवर चद्रप्रकाश सिह जी ने लिखी है और फ्लेप पर सम्मति ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित कवि श्री नरेश महता न लिखी है। इन कलात्मक चित्रो, बोधवर्धक भूमिका और सारगर्भित सम्मति से निश्चय ही पुस्तक की गरिमा मे वृद्धि हुई है। इस पुस्तक के कलात्मक प्रकाशन का श्रेय लोकभारती प्रकाशन' को है। इन सभी के प्रति हार्दिक कृतज्ञा ज्ञापित करते हुए मैं इस कृति को सुधी एव सहृदय पाठको के हाथो मे सौपता हूँ, क्योंकि ' जो प्रबध बुध नहि आदरहीं सो श्रम बादि बाल कबि करही।

'शिवम्' सरस्वतीनगर
अहमदाबाद-३८००१५
वसत पचमी
१५-२-९४



कण्डुर्नाम महातेजा ऋषि परमधार्मिक
सत्यवादी शुचिर्दान्त सर्वभूतहितेरत ॥२॥
जितेन्द्रियो जितक्रोधो वेदवेदाग पारग
अवाप परमा सिद्धिमाराध्य पुरुपोत्तमम् ॥३॥

ब्रह्मपुराण/१७८ अध्याय

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य जगत मे डॉ० अम्बाशकर नागर के "प्रम्लोचा" काव्य का स्वागत करते हुए मुझ अपरिमित आनद का अनुभव हो रहा है। कारण, इस काव्य मे सृष्टि की सनातन कालयात्रा का एक नया आयाम बडे मनोहारी और प्रभावशाली रूप से रसात्मक परिणति प्राप्त करता दिखाई पडता है। आपातत यह एक छोटी सामान्य रूढ प्रेम कथा है जिसमे कडु नाम के ऋषि प्रम्लोचा नामक अप्सरा के रूपमोह मे पडकर अपनी दीर्घकालीन अव्याहत तपस्या को क्षण भर मे गँवा देते है और एक क्षुद्र विलासी की तरह अपने जीवन के आठ सहस्र वर्ष जलधारा म अन्तर्लीन मीनमिथुन की तरह बिता देते है। तपस्या के द्वारा प्राप्त उनकी सब सिद्धियाँ उनके अखड कामोपभोग का साधन बन जाती है। इस अवस्था मे सहसा उन्हे एक दिन अस्त होते हुए सूर्य को देखकर यह अनुभव होता है कि उन्होंने उस अप्सरा के साथ दिन के चार प्रहर बिता दिये है तथा अपना दैनिक कर्तव्य-कर्म और धर्म भी भुला बैठे है। ऋषि की यह प्रत्यभिज्ञा इस काव्य के दार्शनिक पक्ष पर तीव्र प्रकाश डालती है। काव्य मे सर्जित यह अप्रत्याषित नाटकीय स्थिति विश्व की सनातन महासत्ता की कालयात्रा के रहस्य का अववाध प्राप्त करने के लिए मानव-प्रज्ञा मे जिज्ञासा जगा सकती है। इस काव्य कृति की सफलता का यह एक सुखद हेतु है।

कडु मुनि के विराट तपोमय व्यक्तित्व का एक चित्र कवि ने बडी तरल तूलिका से अकित किया है। वे प्रात काल कुश की शय्या से उठकर गौतमी तट पर स्नान के लिये जाते है। उनकी खडाऊँ की खट-खट ध्वनि काल की गति पर ताल देती हुई प्रतीत होती है। महर्षि कडु सतोगुण के विग्रह प्रतीत होते है। मदराचल की द्रोणी की दिव्यप्रकृति भी पग-पग पर उनका अभिनन्दन करती है। सरिता मे स्नान कर जैसे ही वे सूर्य भगवान को अर्घ्य देने को उद्यत होते हैं, वैसे ही उन्हे सूर्य के मार्ग को अवरुद्ध करता हुआ एक सतरगी मेघखड दिखलाई पडता है। निकट आकर वह एक अनिर्वचनीय सौदर्य से मडित अप्सरा के रूप मे परिणत हो जाता है। मुनि उसे विस्मित होकर देखते ही रह जाते है। एक सम्मोहन उनके इन्द्रिय मन और प्राण को अभिभूत कर लेता है। वे अपने यम-नियम आदि भूल कर आगतुक के आतिथ्य की कल्पना मे रमने लगते है। इन्द्र के आदेश से मुनि के जीवनव्यापी सचित तप और सत् के दुर्गम दुर्ग पर तमोगुण का प्रहार होता है। मुनि के तप से दग्ध तमस की स्फुलिंग शेष भस्मावृत्त मनोवेदिका पर रजोगुण की आहुति पड जाती है। जिस प्रकार मृतप्राय अग्नि मे घृत की आहुति पडने से भस्मावृत्त अग्निकण प्रज्ज्वलित हो उठते है, उसी प्रकार उग्र तपस्या से मुनि के अन्तस्थल मे मृतप्राय तमस द्रव्य रजोगुण की

आहुति पाकर उसके बलाघात से प्रज्वलित हो उठता है। दीर्घकाल से गहन तपस्या मे आत्मविस्मृत और लोकविस्मृत कंडु मुनि स्वर्ग से आगत अप्सरा को देखकर कह उठते है—

शास्त्रोक्त नारी महिमा से
अवगत था मैं
श्रुतिपथ से जाना था
मैंने नारी को।
• • • • • •
वंदनीय होती है नारी
श्रुतिपथ में रहती है जब तक
किन्तु दृष्टि-पथ में आते ही
चुंबक बन जाती है नारी
लोह-पुरुष खिंचने लगता है
भूल-बिसर कर नीति को।
• • • • •

कंडु-कथा भारतीय सृष्टि विज्ञान के अनुसार जीवन के प्रादुर्भाव और विकास की भी कथा है। उसके अनुसार प्रकृति मे रसस्वरूप प्राणतत्व के संयोग से जीवन का विकास होता है। प्रम्लोचा अप्सरा को देखकर कंडु ऋषि के अन्तस्थल मे रसतत्व उर्जस्वित हो उठता है और वे देशकाल आदि सब कुछ भूल जाते हैं। अप्सरा शब्द की व्युत्पत्ति अप्+सरण के योग से हुई है। जल मे सरण करने वाली अप्सरा कहलाती है। वह व्युत्पत्यर्थ है। जब सूर्यकिरण का जल मे संचरण या अन्तर्मंथन घटित होता है तब जीव की उत्पत्ति होती है। प्राण, जल और सूर्य किरण के संयोग से जैव द्रव्य के उत्पन्न होने की बात भारतीय सृष्टि विज्ञानियों ने स्वीकार की है। कंडु आख्यान मे यह तत्व प्रकाशमान है। डॉ० अम्बाशंकर नागर ने अपने काव्य मे इस आन्तरात्मिक तत्व का भी कुछ संकेत दिया है। इसलिए उनकी यह रचना सृष्टिविकास के अवरोध पर विजय प्राप्त करने की भी कथा बन गयी है। कंडु के गुरु उन्हे तपस्या का उत्तरदायित्व सौंपकर यह कह कर चले गये थे—

वत्स, यही वह तपोभूमि है
पुण्यभूमि जो होगी
इसकी नैसर्गिक सुषमा
सुरपुर से बढ़कर होगी।
और तुम्हारे तप से

डोलेगा सुरपति का आसन
विचलित न हुए यदि तुम तो
मानेगा वह अनुशासन।

गुरु की आशंका सत्य सिद्ध हुई। इन्द्र ने कण्डु को तपस्या से विचलित करने का उपाय किया। इन्द्र को सफलता मिली। मुनि कण्डु का चरम निवृत्तिपरक तपस्या का उग्र अनुष्ठान विफल हो गया।

मुनि कण्डु की इस विफलता का कारण क्या है? क्या इसके लिए केवल इन्द्र को दोषी माना जा सकता है? सभवत ऐसा मानना उचित नही है। श्री अरविन्द का कथन है, "अनत तक हम केवल तभी पहुँच सकते हैं जब पहले हम सात मे विकसित हो ले। काल मे विकसित होकर ही मनुष्य कालातीत को हृदयगम कर सकता है। पहले अपने शरीर, प्राण और मन की पूर्णता प्राप्त करने के बाद ही अपनी अध्यात्म-सत्ता को पूर्ण बना सकता है।" कण्डु ने कालातीत को पाने के ١٫٩ काल के वैविध्य और वैचित्र्य के बीच विकसित होने का क्या प्रयत्न किया? प्रातःकाल वनस्थली की अनन्त रमणीय सौंदर्यमयी शान्ति और समरसता को अपनी खड़ाऊँ की खट-खट से खडित करते हुए वे निकल जाते होंगे, उसकी ओर देखने का अवकाश ही उनको न मिलता होगा। ऋतुओ का हृदयहारी अनुक्रम उनके लिये व्यर्थ हो जाया करता होगा उन्होंने यह सब तभी देखा जब प्रम्लोचा उनके जीवन मे सहसा अवतरित हुई। कण्डु बाँसो से झुरमुट मे धरती फोडकर निर्जन मे उगे हुए "कल्ला या अकुर" जैसे है। जो वन प्रम्लोचा को अपरिमेय सौंदर्य से मडित प्रतीत होता है, वही कण्डु के लिए विजन केवल विजन है। जब प्रम्लोचा धरती के इस सौंदर्य से विमुग्ध होकर कुछ मनोहर फूल चुनने के लिए उत्कठित हो उठती है, तो कण्डु की भी प्रसुप्त सौंदर्य-दृष्टि का उन्मीलन होता है। प्रम्लोचा के केश मे गुँथे हुए अरुणिम पुष्प के उपहार से मुनि कण्डु की सौंदर्य और प्रेम की चेतना के स्रोत खुल जाते है। उनकी भावसत्ता के अवरुद्ध द्वार अपावृत हो जाते है। इस कृति के दूसरे सर्ग मे कण्डु के जिस भयावह स्वप्न का उल्लेख है, वह इस बात का प्रमाण है कि प्रम्लोचा के प्रति व्यामोहबद्ध होने के पूर्व कण्डु शरीर प्राण और मन की पूर्णता नही कर पाये थे। निवृत्तिमार्गी के लिए भी सात जीवन की वर्तमान अज्ञात या अनित्यता की अवस्था मे सचेत रहकर विकास करना आवश्यक था तभी परम चरम ज्ञान के समग्र नित्य तत्व को प्राप्त किया जा सकता था। भावात्मक सत्ता के ऐकान्तिक निषेध-मात्र से वह सभव नही था।

महान योगीऋषि अरविन्द ने कहा है, भारतीय धर्म ने अपने शिखरो पर एक विशिष्ट कोटि की उच्चतम पुकार स्थापित की है आचार व्यवहार का एक पूर्णतम और अखड मानदड निर्धारित किया है। प्राचीन मन की उदारता के कारण विशाल रूप धारण करके भारतीय नीतिशास्त्र ने वैराग्य की बढती हुई प्रवृत्ति और पराकाष्ठा को पहुँची हुई एक प्रकार की उच्च तपस्या के होते हुए भी मनुष्य को

सौंदर्यप्रिय या यहाँ तक कि सुखभागवादी सत्ता पर भी कोई रुकावट नही लगाई और न प्रवल रूप से उसे निरुत्साहित ही किया। सब प्रकार की और सब कोटियो की सौदर्य विषयक तृप्ति सस्कृति का आवश्यक अग मानी गई थी। उन्होंने लिखा है—

विशेषकर वैष्णव धर्म, मनुष्य की सपूर्ण आनदात्मक सत्ता की परितृप्ति का धर्म है। मनुष्य की भावात्मक और आनदात्मक सत्ता के सम्यक् विकास के लिए ही धर्मानुमोदित सोलह सस्कारो की व्यवस्था की गई थी। इन सस्कारो द्वारा शासित और सस्कारित मानव ही निवृत्ति मार्ग के चरम फल सन्यास और निर्वाण का अधिकारी होता था। कडु सब सस्कारो के मध्य विकसित होने के सौभाग्य से वचित रहे थे। इन्द्र उनके व्यक्तित्व के विकास की दुर्वलता जानते थे। तभी उनके प्रयोग सफल हुए और कडु ऋषि बिना किसी अतर्द्वन्द्व के अप्सरा के मोहपास मे बँध गये। डॉ० अम्बाशकर नागर ने अप्सरा के समक्ष कडु ऋषि के निष्क्रिय पतन का बडा स्वाभाविक चित्रण किया है। यह नागर जी की सास्कृतिक अन्तर्दृष्टि की कलात्मक परिणति है।

कडु ऋषि का अन्तर्मन अपने इस स्खलन का मानसिक स्तर पर क्षीण प्रतिरोध भी नही करता। यह उनकी तपस्या की एकागिता और अपरिपक्वता का ही प्रमाण माना जा सकता है। उर्वशी, रभा आदि अप्सराओ का गायन-वादन-नृत्य सुन-देखकर भी मुनि की अतश्चेतना मे कोई प्रतिक्रिया नही होती, व्यामोह के पाश दृढतर हो जाते है। इसके बडे स्वाभाविक परिणाम का निदर्शन कुशलता के साथ कवि द्वारा किया गया है—

रोम रोम हो उठे कटकित
त्वचा रुधिर चीत्कार उठे
नीति नियम बह गये
देह में आवेगों के ज्वार उठे।
इस आवेग की अति तो तब हुई जब—
आलिगन दृढ हुए
कस गए,
वस्त्राभरण
विदीर्ण हुए
समरागण
बन गई सेज
नख-दत-क्षत उत्कीर्ण हुए।

एक ही रात मे अप्सरा मुनि को कामकला कोविद बना देती है। जैसा पहले कहा जा चुका है प्रम्लोचा के साहचर्य के परिणामस्वरूप कडु की प्रसुप्त सौंदर्य चेतना

के जागरण और भावसत्ता के उद्वेलन का कवि ने बडा सरस और मनोहारी वर्णन किया है। वे प्रम्लोचा की सखियो के नृत्यगान का विमुग्ध भाव से आस्वादन और गुणानुवाद करते है। उनके चले जाने पर वे प्रम्लोचा से कहते है—

जब से तुम हो मिली
सभी कुछ नया-नया लगता है,
तन मे पुलक प्रेम प्राणों में
नया-नया जगता है।

इस प्रसग मे नागरजी की सर्जनाशील अतर्दृष्टि के नव आयाम उद्घाटित हो उठते है, उनके कला शिल्प का यह परिपुट भास्वर सौन्दर्य रूपो के पार देखने की प्रेरणा प्रदान करता है—

रूप की यह दूध धोई चाँदनी
बदल देती है स्वरूपों को प्रकृति के,
अर्थ देती है नये
जीवन-ऋचा को।

कहीं-कहीं कवि ने प्रबध मे बडे मार्मिक गुह्य सकेतो का नियोजन किया है—

जैसे ही मुनि ने भरा, प्रिया को अक मे
पख फडफडाती तरु की फुनगी से
सहसा उडी गगन में चकवी॥

आगे चलकर मुनि का स्वप्नदर्शन भी इसी कोटि का है। पर स्वप्न के वर्णन का विस्तार स्थूल हो गया है। पख फडफडाकर चकई का आकाश मे उड जाना, सूक्ष्म सकेत विधान है। यह चकई मुनि को दी जाने वाली, उनके पतन के पूर्व की नियति की चेतावनी की प्रतीक बन गई है। प्रम्लोचा अपने तर्कों से इस चेतावनी को अनसुनी सी कर देती है। किन्तु स्वप्न मुनि को उद्विग्न बना देता है। यहाँ मुनि की वह अतश्चेतना अँगडाई लेने लगती है, जिसमे प्रम्लोचा से सयोग के पूर्व के दीर्घकालीन कठोर और महान तप की ऊर्जा सचित थी जिसके परिणामस्वरूप अष्ट सिद्धियाँ मुनि की वशवर्ती हो गई थी।

कडु से कुछ मिलता-जुलता ययाति का उपाख्यान प्रसिद्ध है जो अतिदीर्घकाल तक अपना और अपने पुत्र का यौवन भोग लेने के पश्चात् अतृप्त रह गये थे। उनका निष्कर्ष था कि ससार के सब भोग पदार्थ एक ही व्यक्ति को उपलब्ध करा दिये जाएँ और वह अनेक जन्मो तक उनका अखड उपभोग करता रहे तो भी उसकी तृष्णा शान्त नहीं हो सकती। कारण, आग मे घी की आहुति जैसे उसे और प्रज्ज्वलित करती है, वैसे ही भोगो से भोगतृष्णा और बढती है—हविषा कृशानर्त्मेव भूय एवाभि वर्द्धते। ययाति और कडु मे एक साम्य है। दोनो ही दीर्घकालीन अखड

भोगचर्या के पश्चात् भोगो की निसारता का अनुभव करते हैं। अतर यह है कि ययाति भोगतृष्णा से उपराग होकर उद्वेगरहित शान्ति मे अधिष्ठित हो जाते हैं और कडु मुनि अपने तप से भ्रष्ट होकर अतयत उद्विग्न होकर अपने पतन का कारण मानकर प्रम्लोचा अप्सरा का कोसते है। समवत उनकी तृष्णा पूर्ण रूप से निवृत्त नही हुई है वे कहते है—

आठ सहस्र वर्षों के
इस सम्मोहन से जाग, आज
पाया होता यदि मैंने तुममें
उस समर्पिता नारी को,
जिस पर आसक्त हुआ था मैं
अनजाने, अनन्य भाव से।
तो निश्चय ही शीश चढाता
मैं इन सम्मोहन इस सुषुप्ति को।
न्योछावर करता तप की
विभूतियाँ तुम पर
किन्तु देखता हूँ
तुम तो हो निर्विकार, निर्लिप्त।
उद्यत हो, कार्य-सपादित कर
लौट जाने को सुरपुर।

यह एक ऐसा प्रसग है जिसमे अप्सरा प्रम्लोचा का चरित्र बडा उदात्त हो उठता है और मुनि कडु बहुत बौने लगते है। मुनि प्रम्लोचा को पाना तो चाहते हैं पर एक थोथा तर्क देकर उसको अपनाने मे अपनी असमर्थता प्रकट करते है। वह सुरपुर जाने को उद्यत है इसलिए वे उसको समर्पिता नारी नही मानते किन्तु इस काव्य के आरभ मे सुरपुर जाने के लिए उद्यत प्रम्लोचा के समक्ष समर्पित हो जाते हैं। पुरुष चरित्र का यह खोखलापन प्रम्लोचा के शब्दो मे व्यजित है और कथा-क्रम मे भी ध्वनित है। यदि नागरजी को पुरुष चरित्र का खोखलापन और अतर्विरोध दिखाना अभीष्ट था, तो इसमे उनको सफलता मिली है। प्रम्लोचा का चरित्र बहुत ऊँचा उठ गया है। वह कडु ऋषि को पुरुषोत्तम कहती है और मारिषा के रूप मे अपनी सतान देकर उन्हे प्रजापति बनाकर इस धरती से विदा लेती है। अष्ट सिद्धियो के स्वामी कडु ऋषि उस बेचारी के हृदय की व्यथा समझ नही पाते—

मैं तो कहती रही
प्रिय! आओ उतरो
गहरे अंतस में

तुम ही हरदम रहे झिझकते
उस उद्वेलित हृदयोदधि से।
नहीं उतर पाये तुम स्वय ही
उसकी गहराई में,
बहते रहे
ज्ञान-तूँबे के सबल पर
तन के तट पर।

अतत नागरजी ने यह सिद्ध कर दिया है कि उनकी इस काव्यकृति का प्रम्लोचा नाम सर्वथा सार्थक है। डॉ० नागर ने तीसरे सर्ग के आरभ मे आठ सहस्र वर्षों की काल-यात्रा का प्रतीक और बिम्ब योजना के माध्यम से प्रभुविष्णु वर्णन किया है। "तात पर सूत ' "काले और सफेद धागे", ' दो बूढ़ियाँ'' "बारह आरेवाला चक्र "कालपट' "तीन सौ पैसठ गाये —आदि सहज बोध्य रागात्मक प्रतीक है। जितने नाटकीय ढग से कडु ऋषि का पतन हुआ उतने ही नाटकीय ढग से आठ सहस्र वर्षों के भोग के उपरात उनको पुन आत्मबोध प्राप्त हुआ है। इस आत्मबोध का प्रदाता कौन है ?

पुराणो मे इन्द्र को जो रूप प्राप्त हुआ है, वह उनके मूल वैदिक रूप से भिन्न है। वेद मे इन्द्र के अनेक महिमाशाली रूपो का निरूपण है। वे मुख्य रूप से विशुद्ध प्रज्ञा के अधिदेवता है। वे ऋतभरा प्रज्ञा को चारो ओर से घेर कर कुठित करने वाले अज्ञान रूपी शत्रु वृत्रासुर के विनाशक है। जो अविद्या के कारण भगवान से दूर पडे है, उनको वे ही सन्मार्ग पर चलने के लिये अनुशासित करते है। इन्द्रदेव दिव्य प्रकाश के प्रदाता और विचार शक्तियो के अधिपति है। ऋग्वेद के इन्द्र-अगस्त्य सवाद मे वे अगस्त्य की ऊर्ध्वगामिनी अभीप्सा शक्ति को एक निश्चित दिशा प्रदान करते हैं। उसी प्रकार इन्द्र कडु की एकागी और अपूर्ण तपश्चर्या को सृष्टि के विकास में सहयोग प्रदान करने वाली एव निश्चित लोकमगलकारी दिशा की ओर मोड देते है। भारतीय धर्म साधना के जिस आध्यात्मिक पूर्णता का लक्ष्य निर्धारित किया था, उसकी प्राप्ति के लिए सत्ता के भौतिक छोर से आध्यात्मिक परिपूर्णता के छोर तक छलाग लगाना उचित और निरापद नही माना गया था। आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए जीवन और प्रकृति मे आत्मा के ज्ञान के विकासशील उत्कर्ष का साधन और सपादन करना आवश्यक था। इस शास्त्रीय मर्यादा की उपेक्षा करने के कारण कडु को प्रत्यभिज्ञा के लिए आठ सहस्र वर्ष तक अप्सरा के आत्मविस्मरणकारी भोगचक्र मे पिसना पडा। उक्त दैवी-विधान के उपबन्धो की पूर्ति होते ही कडु की अविद्या की ग्रथि खुल गयी। उन्होने रागद्वेष, मोह, अस्मिता, अभिनिवेश आदि की केचुलें उतार फेकी और अज्ञान के-अधकार को चीरकर इन्द्रियो के पुर मे रसे-बसे पुरुष के पाशव-पाश छिन्नकर पुरुषोत्तम के रूप मे प्रकट हुए। प्रम्लोचा कडु से ठीक

ही कहती है पहले तुम कठोर तपोनिरत रहते हुए भी केवल पुरुष थे, अब तुम पुरुषोत्तम बन गय हो।

प्रम्लोचा काव्य एक पौराणिक आख्यान को आधार बनाकर लिखा गया है। डॉ० नागर ने इसमे जीवन के आतरात्मिक अर्थ का कलात्मक चित्रण करने का प्रयत्न किया है। कवि को विकसित नैतिक दृष्टि और सगीत चित्रकला आदि मे निष्णात सौंदर्य रसिक मन का वरदान प्राप्त है। इसलिए इस काव्य के रागात्मक और बोधात्मक दोनो पक्ष सतुलित है और इसलिए इसने चित्रकला और सगीत कला के काव्योपयुक्त तत्वो का यथास्थान समुचित समावेश है। इस काव्य की दार्शनिक धार्मिक और सामाजिक पृष्ठभूमि भी प्रौढ है। इसलिए इसमे भारत के एक महान आध्यात्मिक सत्य की एक रसात्मक झाँकी मिलती है।

कवि को आध्यात्मिक और आतरात्मिक प्रत्यक्षवाद के प्रति पूर्ण आस्था है। इसलिए इसकी पठनीयता प्रेषणीयता और विश्वसनीयता असदिग्ध है। समसामयिक काव्य के परिप्रेक्ष्य मे इस रचना की सबसे बडी सफलता यह है कि यह एक उच्चतम चेतना पर विश्वास करने की प्रेरणा देती है। मानव प्रकृति के दैवी प्रकृति मे रूपातरित होने की प्रक्रिया को प्रतिपादित करने की कवि की आकाक्षा भी इस काव्य मे अभिव्यक्त होती है। तात्पर्य यह कि यह आज के देहनिष्ठ भौतिक यथार्थवाद से भिन्न उच्चतर आतरात्मिक चेतना के प्रत्यक्षवाद का काव्य है। इस दृष्टि से भी यह काव्य विशेष रूप से स्वागत योग्य है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस काव्य मे काल और कालातीत का सापेक्षिक सम्यक् अवबोध जगाने का प्रयत्न डॉ० नागर ने किया है। काल और कालातीत की बहुआयामी सौन्दर्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति भारतीय साहित्य की एक व्यावर्तक विशेषता है। नागरजी ने उसकी रसात्मक अवगति को वाणी प्रदान की है। इन सब विशेषताओ के कारण हिन्दी साहित्य जगत मे नागरजी का प्रम्लोचा' काव्य एक स्मरणीय और उल्लेखनीय योगदान है।

मुझे विश्वास है यह कृति उत्तरोत्तर लोकप्रियता और सफलता प्राप्त करेगी।

डॉ० कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह
सावित्री निलयम त्रिवेणीनगर
लखनऊ २२६०२०

अनुक्रम



ज्ञात्वा तेषामभिप्राय शक्रस्त्रिभुवनेश्वर
प्रम्लोचाख्या वरारोहा रूप यौवन गर्विताम् ॥ १६ ॥
सुमध्या चारजङ्घा ता पीनश्रोणिपयोधराम्
सर्वलक्षणसपन्ना प्रोवाच फलसूदन ॥ १७ ॥
प्रम्लोचे गच्छ शीघ्र त्व यदाऽसौ तप्यते मुनि
विघ्नार्थ तस्य तपस क्षोभयस्वाशु सुप्रभे ॥ १८ ॥

—ब्रह्मपुराण/१७८

प्रथम सर्ग

प्रादुर्भाव

अरुण शिखा ने
जैसे ही उद्घोष किया
ऊषा का,
वैसे ही मुनि उठे
त्याग कुश की शय्या को
ओऽम, ओऽऽम, हरिओऽऽम्
मद्र स्वर मुखरित हुए
उटज मे,
खट खट खट
बज उठे खडाऊँ
निर्जन पगडडी पर!

निशा अभी थी शेष
सो रही थी बन राजी,
दूर कही जल कुक्कुट
या कोई बन पाँखी,
पख फडफडा कर

करता था उपक्रम उडने का
और ले रही थी
अलसाई-सी
सरिता की धारा
अँगडाई
मानो जाग पडी हो
मुनि के
परिचित पद-रव से।

सरिता के उस पार
बदलते जाते थे रग
क्षितिज-पटल के—
जैसे कोई चतुर चितेरा
श्याम फलक पर
फेर रहा हो
तूली पर तूली
विविध रगो की—
पहले लाल
लाल पर पीली
नारगी, सिदूरी, स्वर्णिम्
परिपार्श्व मे कही-कही
नीली, मटमैली।

और इधर
तट पर सरिता के
पवन बह रहा
प्रतिहारी बन कर

प्रभात का,
कभी किसी सोये तरु को
झकझोर जगाता
कभी किसी अलसाई
लतिका से कहता—
'जाग बावरी!'
कभी कभी शतदल के
कानों में कूऽ ' कहता
सरिता से कहता,
'उठ उठ, बीती विभावरी!'
कभी कभी तट पर
जब वह जल्दी आ जाता
या हो जाती देर
कभी मुनि को आने मे
सरिता तट पर,
वह उनका भी उत्तरीय
ले उडता प्राय
कर लेता थोडा-सा लडकपन!
और ध्यान जैसे ही मुनि का
जाता उस पर,
मुँहलगे भृत्य सा कह लेता—
'पा-लागौ मुनिवर!'

मुनि के भी था कौन
वीतरागी थे, एकाकी थे
उस निर्जन मे
ले दे कर
ये ही उनके
सगी साथी थे।

दूर दूर तक फैला बन था
मदराचल का अतराल
दुस्सह, दुर्गम था।
गगन चूमते शृग
तलातल छूते थे
गहरे नद नाले,
इसीलिए इस ओर
नही आ पाते थे
उस जनपद वाले।

वर्षों पहले एक तपस्वी
आया था इस वन मे
और साथ मे बटुक एक
लाया था इस निर्जन मे।
नदी गौतमी के तट पर
आकर वह ठिठक गया था
उद्देशित कर बटुक शिष्य को
उसने स्पष्ट कहा था

"वत्स, यही वह पुण्य भूमि है
तपोभूमि जो होगी
इसकी नैसर्गिक सुषमा
सुरपुर से बढकर होगी।
और तुम्हारे तप से
सुरपति का डोलेगा आसन
विचलित न हुए यदि तुम तो
मानेगा वह अनुशासन।"

तब ही से वह युवा तपी
तपता है
इस निर्जन मे।

बसत, ग्रीष्म
पचाग्नि सेवन,
स्थडिल शयन
पावस में,
शरत्, शिशिर, हेमत
बिताकर आर्द्रवस्त्र मे
अहोरात्र वह युवातपी
तपता है इस निर्जन मे।
और नित्य प्रति
तेजोमय
ऊर्ज्वस्वित अपार
होता है
रत रह देह-दमन मे।

युवा तपस्वी ने
कछुए के अगों की भाँति
समेट लीं समस्त चित्तवृत्तियाँ,
ओढ ली कमठ चर्म-सी
ढाल वर्जनाओ की
बाहर से बद हो
अदर को खुल गया।
इगला ने आसन दिया
पिंगला ने जलपान
सुखमना ने सेज बिछा

समादृत उसे किया
खुल गया—
सूक्ष्म
दिव्य
चेतना का लोक नया।

और देखकर उसे
उधर सुरपुर मे—
यक्ष, देव, गधर्व
कलाधर, विद्याधर
देवाधिदेव तक
'अहो! अहो!
और धन्य, धन्य!'
कहकर गुणज्ञता करते ज्ञापित
किन्तु मुनि के तेजताप से
होते थे मन ही मन
विस्मित,
शकित,
सतापित।

हाँ, तो वे ही
युवा मुनि
कण्डु नाम जिनका था
स्नान-ध्यान
गौतमी तट पर
नित्य नियम जिनका था।

खट-खट-खट
खडाऊँ से देते

ताल काल की गति पर
चले आ रहे थे आश्रम से
तपी गौतमी तट पर।
शीतल मंद पवन भी मानो
करता था अगवानी
पद पखारने को उद्वेलित
था सरिता का पानी।

नित्य नियम
स्नानादि क्रियाओं से
हो निवृत्त
जैसे ही मुनि हुए
अर्घ्य देने हित
बालारुण को अभिमुख
सहसा बीच आ गया
उनके औ' सविता के
कोई घनशावक सतरंगी।

दिव्य! दिव्य!! अति दिव्य!!!
मनोहर ज्योतिपुंज-सा
ज्योत्सना-सा, उल्का-सा
कादंबिनी-कलित सा,
धीरे धीरे निकट आ रहा
होता भास्वर
स्वप्न सृष्टि-सा,
सम्मोहन-सा

रहे देखते
विस्मित हो मुनि
कौतुक लीला,
उतर रहा था
ज्योति विहग
भू-पर चमकीला।
अब तक जो था दृश्य
हुआ वह श्रव्योचित भी
श्रवणपुटो में
'छूम-छननन'
सुन पडे शब्द भी,
और नृत्य मे
आवर्तन-प्रत्यावर्तन कर
जैसे कोई सम पर आये,
उतरा सहसा
धरती पर
वैसे ही कोई।
वस्त्राभरणों बीच
लग रहा था वपु ऐसा
पा आँचल की ओट
दीप दिपता है जैसा।
'अद्भुत! अद्भुत!!'
विस्मित हो
मुनि बोले सहसा—

"यक्ष है कि किन्नर है?
या देवाधिदेव है?
शीतल शशि है
या तेजोमय

सविता स्वयमेव है?
कौन? कौन है आप?
प्रश्न यह एकमेव है।'

"आप कौन है?
क्या करते है, इस निर्जन में?"
प्रत्युत्तर मे
किया प्रश्न ही
आगतुक ने?
ऐसा लगा कि जैसे कोई
कोयल कूकी हो
पचम मे।

"पूछते हो
कौन हूँ?
क्या कर रहा हूँ
इस विजन में?
कौन हूँ?
यह तो नहीं मै जानता हूँ
हम अभी अज्ञात है
इस सत्य से,
यह मानता हूँ।

"सूर्य से पूछो कि
कह तू कौन है?
चद्र से पूछो
तो वह भी मौन है।
तप रहे है

रातदिन दोनों
निरंतर
किन्तु यदि पूछो कि
तुम क्या कर रहे हो?
तो कहेंगे—
हो रहा है, आप ही
सब हो रहा है।
"कौन हूँ मै?"—
कर रहा हूँ जानने की
साधना ही
इस विजन में।

"कौन हूँ मै? कोऽहम?
—पूछता हूँ
प्रश्न अपने आपसे।
किन्तु
स्मृति की पगडंडी
विस्मृति के अरण्य मे
अधिक दूर
नहीं जा पाती है।
भूल चुका हूँ
अब तो मै
नाम-गोत्र भी
प्रपिता या पितामहों के।
बस
केवल इतना सा
याद रह गया—
'कडु'- कहा करते थे, गुरु
मुझको शैशव मे।

जब से मैने
होश सभाला
पाया है
अपने को
मैने इसी विजन मे
मानो, उग आया हूँ
मै भी इस निर्जन मे।
वैसे ही, जैसे—
बाँसो के झुरमुट मे
धरती फोड
कोई कल्ला उग जाये सहसा
और रहे बढता
प्रकाश की ओर निरतर।
मेरा जीवन—
ऐसी ही सीधी रेखा है।"

"सीधी रेखा—
स्रष्टा के
सधे हुए हाथो की
परिचायक होती है।
जाति, गोत्र, परिवार प्रतिष्ठा का
ब्योरा देते है वे ही,
जिनका जीवन
होता है
टेढी रेखा-सा

"खिन्न क्यों है
भूलकर निज नाम गोत्र?
ब्रह्म स्वय है अगोत्र।

अद्रेश्यम्, अग्राह्यम्, अगोत्रम्!
और कस्त्वं, कोऽहं, कुत आयाता?
कौन हो तुम?
कौन हूँ मैं?
और आये है हम कहाँ से?
गूढ है ये प्रश्न
जिन्हे चिंतन, मनन, निदिध्यासन से
धन्य है,
सुलझा रहे है आप।"

इतना कह—
व्रती, दांत और दीप्त तपी
मुनि को,
निरखा अपांग से
आगंतुक ने
और कहा,

"निर्जन होने पर भी
मुनिवर,
नन्दनवन-सी है
यह वनराजी—
लाल लाल धरती के
अंग पर यह हरियाली
अंगूरी अँगिया-सी
लगती है रूपाली,
कहीं शैल के उच्च शिखर
औ गहरी दरियाँ
ताल-तलैया, प्रद निर्झर
रूनझुनी नदियाँ

प्रमुदित पीन पयोधर
मदराचल आच्छादित
रजत मेखला-सी कटि मे
सरिताएँ वेष्ठित,

"जगह जगह
वाल्मीकि खडे
लगते है ऐसे,
बना घरौंदे—
प्रकृति खेल रही हो जैसे।
कही ताल-तम्माल
कही फैले पलाशवन,
देवदारु अरु शाल
कहीं पर है अशोक घन।
सरिता तट पर कही
नारियल के निकुज है,
कदलीफल से लदे
कही पर केलि-कुज है।
दाडिम, पनस, लकुच-आच्छादित
यह अरण्य है,
इस शोभाश्री के सम्मुख
नन्दन वन नगण्य है।

"सचमुच ही सुरम्य है
मुनिवर!
भूपर यह अधिवास आपका।

"विजनवन
छाया सघन

कलकल रता स्रोतस्विनी है,
स्वच्छद तन
उन्मुक्त मन
सुरभित पवन
उन्मादिनी है।

"आकाशमार्ग से जाते
इच्छा हुई कि
ठहरूँ
सुस्तालूँ क्षण भर
इस निकुज मे,
और चुन सकूँ तो चुन लूँ
धरती के भी कुछ फूल मनोहर।

आतिथेय को
किन्तु अतिथि की
यह इच्छा भी,
सभवत स्वीकार नही है।"

आतिथेय तो
निर्निमेष
अपलक नयनो से
रहे देखते
आगतुक को।
पता नहीं—
कब अर्घ्यपात्र
गिर गये

हाथ से।
कब छूटीं रासें
मन के अड़ियल
अश्वो की,
कब चित चिहुँटा
रूप-रग के
आवेगों में
कब चिर सचित
तप से अर्जित
उग्रदीप्तता
शात हो गई।

मनोयोग पूर्वक मुनि ने
रोका मन के आवेगो को
होकर प्रकृतिस्थ कहा

"नहीं, नही!
ऐसा कुछ
इस एकाकी का
अभिप्राय नही है
शिष्टजनोचित होता
निर्जन का शिष्टाचार नहीं है।
ठहरो।
जी भर कर ठहरो!
बैठो
विश्राम करो।
जितने चुनने हो चुनो
विपिन के फूल मनोहर।

कद, मूल, फल
जो भी है
अर्पित है वे सब श्रद्धा सह।
आप प्रथम पाहुन है
निर्जन के इस
एकाकीजन के।
निश्चय ही मै
धन्य हुआ हूँ
दर्शन पाकर
यदि होता मै चित्रकार
सत्यम्,
शिवम्,
सुन्दरम्
का रख लेता
अनुपम चित्र बनाकर
जिज्ञासा है प्रबल
रोक पाता नहीं मन को,
किनके आतिथ्य का
अनायास सौभाग्य
मिल रहा है इन जन को?

"मै नारी हूँ?
क्या इतना परिचय
मेरा पर्याप्त नहीं है?"

"नारी!!!"
मुनि तो निर्निमेष
रहे देखते रूप-शिखा को।

"क्यो ?
नारी होना
क्या कोई महा पाप है ?"
—पूछा उस सस्मित वदना ने

"नहीं शुभे,
है वदनीय नारी तो,
चकित रह गया
यह जन ही उसे निरख कर!

शास्त्रोक्त नारी महिमा से
अवगत था मै
श्रुति पथ से ही जाना था
मैंने नारी को,
आज दृष्टि-पथ मे
उस ही को पाकर सहसा
स्तब्ध रह गया था
एक कर रहा था।
मन में उभरे, उसके दोनो चित्रो को!
जीवन मे पहली बार
आज देखा मैंने नारी को।

शिव, शिव!
किस-किस पथ से होकर
नर-मन मे आती है नारी,
परोक्ष और होती है वह,
प्रत्यक्ष और—बेचारी!
और पुरुष

दोनों रूपों का
एक किया करता है, मायन्वीना
किन्तु नहीं कर पाता है
कैसी है लाचारी।"
इतना कह
सस्मित बोली प्रम्लोचा
"मुनिवर!
कैसी लगी आपको
दृष्टिगता यह नारी?"

"प्राम्लोचे,
नारी का वर्णन विश्लेषण
नर के वश की बात नहीं है
बाँध भले ही ले शब्दों में
वह उसकी अनुभूति को।

चक्षुश्रवा बन सुने
श्रवणद्रष्टा बन कर
देखे यदि उसको
शब्द दे सकेगा तब ही नर
तनातीत प्रतीति को।

वंदनीय होती है नारी
श्रुतिपथ में रहती है जब तक
अर्घ्य दिया करता है नर तब
उसकी विमल विभूति को

किन्तु दृष्टिपथ मे आते ही
चुबक बन जाती है नारी,
लौह पुरुष खिंचने लगता है
भूल बिसर कर नीति को।"

"अच्छा तो अब चलूँ
बीता समय बहुत
बतरस मे"
—इतना कह, श्रद्धासह
केशपाश से लेकर
अरुणिम पुष्प मनोहर
अर्पित करने की मुद्रा मे
नत हो, बोली सस्मित वदना—
मुनिवर!
यह है स्मृति-चिह्न
इस निर्जन के
पहले पाहुन का।
सुर तरु का
पावन प्रसून यह
जब तक अम्लान
और उत्फुल्ल रहेगा,
स्वर्गलोक मे रहकर भी
अनुराग रहेगा
श्रीचरणों में
प्रम्लोचा का।

"नही-नही भद्रे!
प्रम्लोचे!
रुको, रुको हे देवि!

रुको कुछ क्षण तो।
मुझे छोड़ कर
मत जाओ तुम।
तुम से होकर विलग
नहीं अब रह पाऊँगा
इस निर्जन में।
माँगा होता इन्द्रासन
यदि मैंने त्रिदेव से
'तथास्तु!' निश्चय ही
कह देते, वे मुझको।
इतना-सा
अनुरोध, सकार नहीं सकती
क्या, तुम इस जन का?"

विगलित होता हिमगिरि
ज्यों रवि-किरणों के
प्रखर ताप से,
पिघल रहा था
तप-पूत मुनिमन
वैसे ही अतनु-ताप से।

मुदित हुई
मन ही मन प्रम्लोचा
विनय-अनुनय से
किन्तु प्रकट बोली इतना ही

"पथ लम्बा है
दूर, दूऽर, अति दूऽऽर
मुझे है जाना,
किन्तु आतिथेय के आग्रह पर
शिरोधार्य है रुक जाना।"

"धन्योस्मि,
धन्य हुआ
कृत कृत्य हुआ मै
इस अनुग्रह से।
वह देखो वह रही उटज
वहाँ—
कदली कुजों मे।
घडी दो घडी निष्कुट में
चलकर बैठो, सुस्ताओ
कद, मूल, फल
जो भी रुचिकर हों
आरोगो, पाओ।

आगे आगे कण्व
चली पीछे प्रम्लोचा।
सप्तपदी में
जैसे वधू
अनुसरती वर को,
अथवा जैसे—
सामगान में
लय अनुसरती चलती
स्वर को।

●●



स च कण्डुस्तया सार्धं प्रविशन्नेव चाऽऽश्रमम्।
आत्मन पर रूप चकार मदनाकृति॥ ६१ ॥
रूपयौवनसपन्नतीव सुमनोहरम्।
दिव्यालकार सयुक्त षोडशवत्सराकृति॥ ६२ ॥
दिव्यवस्त्रधरकान्त दिव्यस्रग्गन्ध विभूषितम्
सर्वोपभोग सपन्न सहसा तपसो बलात्॥ ६३ ॥

—ब्रह्मपुराण/ १७८ अध्याय

द्वितीय सर्ग

प्रणय

घडी दो घडी रुक
जैसे ही कहा अतिथि ने
"अब जाऊँ?"
आतिथेय ने कहा
"अभी टुक ठहरो भद्रे!
स्वागतार्थ कुछ लाऊँ।"

प्रहर दो प्रहर
रीत गये फिर
बातो ही बातों मे।
तदन्तर जैसे ही
जाने को उद्यत
हुई पुन प्रम्लोचा,
विगलित हो बोले मुनि सत्तम—
"सुभगे! रुको, एक-दो दिन तो।
क्या अभाव है तुम्हे यहाँ
इन जन के रहते?

क्या यह उटज
और कदली बन
गरिमा के अनुकूल नही है?
अथवा यह जन ही
नही योग्य सेवा के?"

इतना कह
कुछ ठहर,
आँख मूँद
चिंतन कर
कमण्डलु से
तप-पूत जल ले अजुलि मे
छिडक चतुर्दिक
किया आचमन
जैसे ही मुनि सत्तम् ने
वैसे ही—
वह उटज
और
कदली वन
दोनो
नन्दन वन से कहीं अधिक
रमणीय हो गए।
और स्वय मुनि भी
तज मुनियों का वेश विरागी
कुसुमायुध से कहीं अधिक
कमनीय हो गए।

तदन्तर
प्रम्लोचा को सबोधित कर

बोले मुनिवर—
'वर ब्रूहि!'

किन्तु प्रम्लोचा तो
मुनि के इस आलोक-पर्व से
थी इतनी अभिभूत हो गई, कि
'अल अल! प्राप्त सर्वम्!'
कह, मौन हो गई।

देखे थे उसने
सुर-असुर
यक्ष किन्नर
देवाधिदेव
किन्तु नर के तप-तेज,
वीर्य-विक्रम दर्शन का
यह उसका
पहल अनुभव था।
और साथ ही
दीप्त तपी, अत्युग्र
ज्वलनार्क-प्रभा सम
मुनि शार्दूल से
शापित होने का भी भय था।

अत
"जयतु महामुनि!"
वह बोली भीता प्रम्लोचा
"अनुगत हूँ, आज्ञाकित हूँ, प्रस्तुत हूँ म,

अहोभाग्य है
निश्चय ही यह मेरा।
मुझे पहुँचना था
सुर पुर मे
दिन ढलने से पहले
इसीलिए मै
माँग रही थी आज्ञा प्रभु से।
किन्तु, आर्य का प्रकट अनुग्रह है,
आग्रह है, तो फिर
रुकना ही होगा अब मुझको"

निरख अपागों से,
लेकर अगडाई, बोली प्रम्लोचा
"आर्य कह रहे है तो
मै रुक ही जाती हूँ।"

"गृहणामि ते
सौभाग्यत्वाय हस्तम्।"
कहकर
नव किसलय-सा
प्रिय का पाणिग्रहण कर
प्रहर्षित मुनि
निमिषमात्र में
सघन कुज के बीच, उटज में
सहसा अतर्लीन हो गए,
मानो मीन-मिथुन
क्रीडा रत थे जो
तटवर्ती जल में अबतक,

और मृदग, बीन, खजरी ले,
प्रभु को अनुरजित करने, और रिझाने।"

फिर परिचयार्थ
इगित कर बोली
"दिव्यागना उर्वशी है ये—
जिनके नूपुर की झकृति मे
कोटि-कोटि लय लीन है।
और मेनका—
जिनके स्वर-साधन के
तीनो लोक अधीन है।
और, यह रही रति, रभा,
नित जिनका रूप
अनूप है।
तन्वगी तिलोत्तमा है ये
जिनके कर मे बीन है।
और सुश्रोणी सहजन्या ये,
गायन-वादन दोनो ही में जो
सचमुच बडी प्रवीण है।

"रह रह!"
कहा, उर्वशी ने - "मध्येक्षमे।
तू भी तो बडी अनन्य है
पाया है 'प्रिय' ऐसा, जो
तीनों लोको में धन्य है।"
कहा मेनका ने—
"प्रम्लोचे।
तुझ पर दैव प्रसन्न है,

पहले हम
सजनी को शृंगार दे
तदनतर
नाचे, गायें, वाद्य बजायें
या होकर उन्मत्त,
गान की स्वर लहरी पर
हर गमक, मींड पर झूमें
या सम के ऊपर ताल दें।"

इतना कह
उर्ध्व स्वरो मे
प्रम्लोचा को टेरकर
पार्श्ववर्ती झुरमुट में जा,
करने लगीं शृगार
सभी अप्सरियाँ
उसको घेरकर।
गधवाही कुतलो को
ग्रथित कर अरविंद से,
चद्रोज्ज्वल कलित कपोलो को
मल लोध्र रेणु-से,
चित्रित कर, उत्तुग उराजों को
सुरभित शैलेय से,
सघन स्निग्ध जघाओ पर
उबटन रच कर मकरद से
चरणतलों को लाक्ष्यारजित किया
अरुणा अनुलेप से
प्रम्लोचा को नख से शिख तक,
किया अलकृत

पचम पिक कूजन है मेरा
धैवत धवल हास है तेरा
सब सपने हो साकार
मीत मन बसिया॥ मै गाऊँ० ॥

छेड़ूँ निपाद हर लूँ विपाद
आलाप तान का कर निनाद
है स्वर का यह ससार
मीत मन बसिया॥ मै गाऊँ० ॥

मन मृदग की धिनगिन तिनगिन
चौताले की किटतक गदिगिन
मै दिन गिन गिन गई हार
मीत मन बसिया॥ मै गाऊँ० ॥

नादिर नादिर तोम् दिर दिर दिर
मनवीणा को आन्दोलित कर
मै छेड़ूँ तन के तार
मीत मन बसिया॥ मै गाऊँ० ॥

ता थेइ, ता थेइ, तत् तत् थेइ, थेइ
नूपुर बाँध नाच दिग दिग थइ
अब लोक लाज दी डार
मीत मन बसिया॥ मै गाऊँ० ॥

'क्षमा करें।'
बोली अप्सरियाँ
सहसा मुनि को टोक कर
"धन्य हुई हैं हम निश्चय ही
इस गुणज्ञ मनुहार से
किन्तु अनुज्ञा चाहेंगी अब
इस स्वागत-सत्कार से।

बहुत हो गई देर
रात भी गहराई है
सुरपुर की बिसरी याद
कौंध मन में आई है।
अच्छा तो हम चले
स्वस्ति, शुभ मधुराका हो।"

फिर बारी-बारी से भरकर
प्रम्लोचा को अंक में
प्रगल्भाएँ बोली कटाक्ष कर
"प्राणवल्लभे, प्रम्लोचे।
तुमको भी शुभ हो
यह मधुर मिलन की प्रथम यामिनी।"

ऐसा कह
उड़ी अप्सरियाँ
वस्त्राभरण सँवारकर
जैसे हंसों की टोली उड़ जाए
नभ में पंख पसार कर।

कुछ क्षण तक
निर्निमेष,
अपलक नयनों से मुनिवर
रहे देखते
प्रम्लोचा की देहयष्टि को,
नन्दनवन की
पुष्पित कल्पलता सी
थी वह शोभित
नख से शिख तक।

फिर विमुग्ध हो उठे
गिरा गदगद हो आई
विगलित हुए विकार
कल्पना ने ली अँगडाई
सबोधित कर
प्रम्लोचा को, बोले मुनिवर--

"हे सुकेशी,
ये तुम्हारे केश काले।
देख जिनको--
नतमस्तक हुए है व्याल,
भ्रमर लज्जित हो गए
जो थे बडे वाचाल,
काक कोयल को पडा
करना पलायन
पड गये प्राणों के लाले,
प्रिये, तुम्हारे केश काले।

"वरारोहे!
प्रत्यचा चढे धनु-सी
यह तुम्हारी देह-यष्टि।

देखकर ग्रीवा
गर्व विगलित
हो गया कपोतों का,
प्रमुदित पयोधरों को देख
शिखरिणी सकुचा गई,
कटि की क्षीणता से लजाकर
मृणाल जा छिपी सरोवर मे,
तुंब पराजित हो गए
नितबो से।
स्निग्ध जघाओं से सकुच
खभ कदली के
नत मस्तक खडे है,
चरणों की अरुणिमा से
अरुणाभ अपकृत हुए है।

सुमध्यमे!
दे रही टकार
प्रत्यचा चढे धनु-सी
तुम्हारी देह-यष्टि,
दे रही टकार"

भुवन मोहिनि!
दिव्य दिव्या हो, अहो तुम

तडप उठी
शोणित की शफरी
और खोजने
लाग लगी।

आलिगन दृढ हुए
कस गए
वस्त्राभरण
विदीर्ण हुए
समरागण
बन गई सेज
नख-दत क्षत उत्कीर्ण हुए।

तृप्तकाम हुआ
तन-तरुवर,
देह-वल्लरी के भी
सकल मनोरथ सिद्ध हुए,
धरा धन्य हो गई
मेघ भी
गरज-बरस सतृप्त हुए।

गहराई फिर रात
नींद ने दोनो को
विश्राम दिया,
सुख-निद्रा मे
सोये ऐसे
दिन-चढने तक
जला दिया।

"यह धरा थी
और यह आकाश भी था
यह ही गगन का चाँद
तारे भी यही थे।
उटज भी यह ही
कुज बदली के यही थे,
सरित थी यह
और यह ही थे घरौंदे
किन्तु इनको
कर दिया है दिव्य तुमने
आज अपने रूप से।

रूप की, यह दूध-धोई चाँदनी
बदल देती है स्वरूपों को प्रकृति के
अर्थ देती है नये
जीवन-ऋचा को।



"रूप—
नर का हो
कि नारी या नरेतर प्रकृति का,
दृष्टि का पाथेय है वह,
साक्ष्य है, विधि की
प्रखर परिकल्पना का।

रूप—
स्रष्टा के सधे हाथो
की निर्मिति, एक दिव्य कलाकृति है।

"यह धरा थी
और यह आकाश भी था
यह ही गगन का चाँद
तारे भी यही थे।
उटज भी यह ही
कुंज कदली के यही थे,
सरित थी यह
और यह ही थे घरौंदे
किन्तु इनको
कर दिया है दिव्य तुमने
आज अपने रूप से।

रूप की, यह दूध-धोई चाँदनी
बदल देती है स्वरूपों को प्रकृति के
अर्थ देती है नये
जीवन-ऋचा को।



"रूप—
नर का हो
कि नारी या नरेतर प्रकृति का,
दृष्टि का पाथेय है वह,
साक्ष्य है, विधि की
प्रखर परिकल्पना का।

रूप—
स्रष्टा के सधे हाथों
की निर्मिति, एक दिव्य कलाकृति है।

करती है रुधिर को।
"और जब
गधाकुल रुधिर मे
ज्वार आता—
नीति नियमो के
कगार ध्वस्त होते
टूट जाते तट-सर्पो के।
गधवाही रुधिर का
यह ज्वार ही
आकार देता है, सृजन को।



"और शब्द—
जिन्हे सुनता रहा हूँ
मै सदा निस्सग—
कलकलरता स्रोतस्विनी का
वह निनादित गान,
विहगवृदों की सुरीली
बाँसुरी-सी तान।
वनराजि की वह विचरती
मरमर ध्वनि समवेत्
और सन्नाटा गहन
गिरि गह्वरों का मौन,
आज मुझको दे रहा
सकेत है यह कौन?



"और स्पर्श—
शीघ्रलिपि सवेगों

शब्द-साधना से
जिस मजिल तक जाने में
वर्षों लगते है
स्पर्श-साधना
वह मजिल, तय करती है
निमिषो मे



और रस—
क्या रसना का ही
सहज व्यापार?
मधुर, कटु औ' तिक्त
खट्टा, खारा, कसैला
षडरस, शास्त्र के अनुसार।

क्या नही रस—
हृदय-तत्री की मधुर झनकार?
क्या नहीं रस
आत्मा का मधुर व्यापार?
क्या नही रस
रसौ वै स
ब्रह्मानन्द स्वय साकार?

रूप, गध,
शब्द, परस, रस
इन पाँचों की
पचवटी है नारी।

शब्द-साधना से
जिस मजिल तक जाने में
वर्षों लगते है
स्पर्श-साधना
वह मजिल, तय करती है
निमिषो मे



और रस—
क्या रसना का ही
सहज व्यापार?
मधुर, कटु औ' तिक्त
खट्टा, खारा, कसैला
षडरस, शास्त्र के अनुसार।

क्या नही रस—
हृदय-तत्री की मधुर झनकार?
क्या नहीं रस
आत्मा का मधुर व्यापार?
क्या नही रस
रसौ वै स
ब्रह्मानन्द स्वय साकार?

रूप, गध,
शब्द, परस, रस
इन पाँचों की
पचवटी है नारी।

पचतपा है पुरुष
अहर्निप तपता है जो
पचताप से,
पचत्व प्राप्त करने तक।

सच पूछो तो—
चदन के फूल-सी
फल-सी ईख के
सोने में सुगन्ध सी
अनहोनी नारी है।'

"साधु साधु!
वहुत हुआ नारी सकीर्तन,
धन्यानुभव करती हूँ
मै निज को,
नारी होने के नाते।

किन्तु कैसा है यह
अप्रस्तुत विधान,
उपमान-नियोजन।
चदन के भी फूल कहीं होते है?
और ईख के फल,
किसने चक्खे है?
और सोने मे सुगन्ध
किसने सूँघी है?

जो है ही नहीं,
जिसका अस्तित्व नहीं है जग मे,
फिर उससे नारी की उपमा कैसी?
क्या ऐसी अनहोनी
अनजानी है नारी?
नहीं, कल्पना मात्र
भ्रांतियाँ है ये
नर के मन की।

हे सौम्य!
शक्ति स्वरूपा नारी को
अनहोनी, अनजानी कहना
उचित नही है।

नारी तो
साक्षात सजीवनी है
इस जग मे।
उसके रूप, रस, गध,
शब्द, स्पर्श से—
नर तो क्या
नरेतर-प्रकृति में भी
प्राण सचरित हो उठते है।

हे सौम्य!
वनस्पति जगत
साक्षी है—
नारी के स्पर्श से प्रियगु,
मुख-मद्य से बकुल

पद-प्रहार से अशोक
दृष्टिपात से तिलक
और आलिंगन से कुरबक
पुष्पित हो उठते हैं।
नर्म वाक्य से मंदार
मृदु हास्य से चंपक
मुखवास से आम्र, मुकुल
गायन से नमेरू
और नृत्य से करण तक
खिल उठते हैं।

नारी को
बनाया ही विधाता ने
सृष्टि को रोमांचित,
आह्लादित, विकसित करने के निमित्त है।

नारी की तरह
नर को लेकर भी
अनेक भ्रांतियाँ
विद्यमान हैं।

नारी को अबला
और नर को बली
मानना भी मिथ्या है।

नर तो
दुर्बल है,

अति दुर्बल, नारी से।
शारीरिक सपत्ति मे भी
वह उसके समकक्ष नही है।

नारी तो
शक्ति का
अजस्र स्रोत है
कारयित्री ऊर्जाएँ
प्रतिभाएँ भावयित्री
सर्जक होने के नाते
प्रकृति-प्रदत्त है उसको।
तन-मन दोनो मे
नारी नर से
बहुत अधिक सक्षम है।"

"सत्य कह रही हो, भद्रे, प्रम्लोचे।
मैने भी नारी को
ऐसा ही जाना-माना है,
नारी तो अत सलिला है,
इसीलिए विमला है।

मर्यादा मे बँधा
कूप जल गदलाता है
किन्तु नीर, अत सलिला का
निर्मल का निर्मल रहता है।

नारी, तन से ही नहीं
मन से भी अम्लान,
अनुद्विग्न,
निःशंक, निःसंशय
दुविधा रहित
रहा करती है।
सद्बुद्धि से संचालित
होता है
जीवनक्रम उसका।
नर
दुविधा में पड़कर जब
तर्क-वितर्क
किया करता है
सद्बुद्धि के बल पर तब नारी—
झट निर्णय करती है।
इस प्रकार
नारी
प्रकृति के
अधिक निकट है
नर से।

नारी का यह वैशिष्ट्य,
यह नैकट्य प्रकृति से
आकर्षित करता है
नर को
उसकी ओर निरंतर"

"जो भी हो

होता है युग्मो मे
इस धरती पर।

कभी-कभी मैं
सचमुच ऐसा अनुभव करती हूँ
छेड रहा है जैसे कोई
तनतत्री को मिजराबो से
केवल तार नहीं, तरबें तक
रह रह कर बजती है।"
पुलक, कप, रोमाच
उसी की है झनकारे,
मानों नारी नहीं
काम की वीणा हूँ मै।
और बज रही हूँ
स्वय ही, बिना बजाये।

बहुत चाहती हूँ—
सयत हो रोकूँ निज को
किन्तु—
मन-मृदग पर अतनु
थाप पर थाप दिये जाता है।
इन आघातों-प्रत्याघातों से
प्राणों की लय
द्रुत से द्रुततर होती जाती है।
बज उठती है—
सकल शिरायें
झन-झन करतीं,
आवेगों के ज्वार
उमडते हैं तब

मेरे हृदयोदधि में
मानो नारी नहीं,
शरद ऋतु की राका हूँ।
अदभुत है
रागानुभूति।
दिव्यानुभूति है क्या यह
इस धरती की?

"रागानुभूति
और
दिव्यानुभूति
दो नही है, एक ही है।
स्थापित होता है उभय मे
सबध मम का, ममेतर से
भेद इतना है—
एक है मूर्त, अमूर्त है अपर।
एक पार्थिव है, अपार्थिव है इतर।
एक मे आलबन है प्रत्यक्ष,
दूसरे मे परोक्ष है।
किन्तु दोनो
अनुभूतियाँ है—
रागमय औ' दिव्य।

रागानुभूति का ही
प्रेम है उपनाम
यह सनातन प्रकृति,
यह ही नियति है, मनुज की।
देह का विज्ञान भी करता है

आकर्षण-विकर्षण के
नियम से
चल रही है सृष्टि।
आकर्षण, समशील के प्रति
विकर्षण विपरीत,
बस इसी पर आधृत है
सृष्टि का सगीत।
सम-विषम है उसी के
घात-प्रत्याघात
और लय है
लीन होने की क्रिया का नाम
लीन होने पर ही
श्रुतिगम्य होता—
दिव्य यह सगीत।
प्रेम तो
ससार के
सुनसान, बियाबानों में खिला
एक अलौकिक पुष्प है।

यह न खिलता तो
व्यर्थ हो जाती
सूरज की धूप और
चद्रमा की चाँदनी

यह न खिलता तो
निरर्थक हो जाता
मलयानिल पवन,
अर्थहीन, अप्रासगिक

हो उठते ऋतुचक्रो के
आवर्तन प्रवर्त्तन।

यह न खिलता तो
बजड हो जाता
गार्हस्थ्य का वृदावन,
निर्गंध रहता नन्दनवन
दाम्पत्य का।

इस, एक ही तीव्रगधी
पुष्प ने खिलकर
सुगधित कर दिया
सारे जगत को।
"प्रेम मे
विस्तृत होती है
मनोवृत्तियाँ
परिष्कृत होती है
रुचियाँ
विगलित होती है
कुठाएँ
विमोचित होती है
ग्रथियाँ।

प्रेम वह महाभाव है
जिसके उदित होते ही
सभी विकार
विदीर्ण,

निरस्त,
हो जाती है।

प्रेम
आत्मा का
वह दिव्य सगीत है
जो तुमुल कोलाहल मे नहीं
एकात में श्रुतिगम्य होता है,
जिसकी प्रतिध्वनि
बाहर नहीं,
गूँजती है
अतर्जगत मे,
कूप-ध्वनि-सी।

अद्‌भुत है
अनुभूति प्रेम की
इस धरती पर।
सुरपुर में तो प्रेम
हिमानी-सा शीतल था।
एक तृप्तिकर
समशीतोष्णानुभूति
हुआ करती थी प्राय
मन-प्राणों में
इस उष्मा, इस तीव्र पिपासा
का अनुभव तो
वहाँ नहीं होता था।

कभी कभी
ऐसा भी लगता है
मुझको, जैसे—
तुम अक्षयवट के
स्तब गुल्म हो,
मै गुल्मिनी हूँ।
आतुर हूँ मै
तुम्हे जकडने बाहुपाश मे
किन्तु, इतना विराट
इतना विशाल है
यह प्रकाड स्तभ तुम्हारा
जिसे घेरने मे मेरी
भुजलता बहुत ओछी पडती है।

सोच रही हूँ,
क्यों रीझी मै अक्षयवट पर
अच्छा होता
अनुरक्त हुई होती मै
अश्वत्थ, बकुल या पारिजात पर।
जिसे घेर पाती
मै अपने बाहु वलय में।
किन्तु मुझ वामा को तो
अक्षयवट की गुल्मिनी होना था।
और सहना था
ऋतुओ का आवर्तन-प्रत्यावर्तन



बह रही बयार
फागुन की बह रही बयार!

निरस्त,
हो जाती है।

प्रेम
आत्मा का
वह दिव्य सगीत है
जो तुमुल कोलाहल मे नहीं
एकात मे श्रुतिगम्य होता है,
जिसकी प्रतिध्वनि
बाहर नहीं,
गूँजती है
अतर्जगत में,
कूप-ध्वनि-सी।

अद्‌भुत है
अनुभूति प्रेम की
इस धरती पर!
सुरपुर में तो प्रेम
हिमानी-सा शीतल था।
एक तृप्तिकर
समशीतोष्णानुभूति
हुआ करती थी प्राय
मन-प्राणों में
इस उष्मा, इस तीव्र पिपासा
का अनुभव तो
वहाँ नहीं होता था।

आज ऋतुराज ने
सुरभि की स्याही से
अणु-परमाणु पर
चेतन के जोग लिखी
पाती मदानोत्सव की,
द्वार-द्वार बाँट रही
बासती बयार।
बाँच रहे
चौराहों पर
रसिक शिलीमुखवृंद
कर-कर गुंजार।
बह रही बयार
फागुन की बह रही बयार।

धरती ने आज सजे
सोलह शृंगार
वृक्षों ने पहने
वस्त्र नव पल्लव के,
लतिका ने फूलों के
पहने गलहार
झड गए पीत पात
सिहर उठा सकल गात,
मन मे मादक खिलोर
तन मन सब गई बौर
ढह गये वर्जना के
कुंठित कगार।
बह रही बयार
फागुन की बह रही बयार।

जीवन मे यही सार
शेष सब निस्सार।
बह रही बयार
फागुन की बह रही बयार।



अति आतप तन मेरा जारे।

धरती मे पड गई दरारे
सूखे ताल-तलैया सारे
कुपित हुए भगवान भास्कर
त्राहि-त्राहि सब जगत पुकारे।
अति आतप तन मेरा जारे।

उठे बगूले और बवडर
चले आँधियाँ औ' नित अधड
ताप तप्त बेचारे तरुवर
दीरघ दाघ निदाघ के मारे।
अति आतप तन मेरा जारे।

आग बरसती है अबर से
देह सिक्त है श्रमसीकर से,
चलदल तक निस्तब्ध, पवन की
राह देखते है बेचारे।
अति आतप तन मेरा जारे।

जलद पुज को
विटपवृद,
आमत्रित करते
पडे दिखाई।
चलने लगी
पवन पुरवाई।

उमड-घुमड कर
काले बादल
चले आ रहे है
दल के दल,
समरागण मे
जैसे सेना
बढती पडे दिखाई
चलने लगी
पवन पुरवाई।

गृग-गृग-गृग-गृग
गरज रहे
गजगामी बादल,
कड्-कड्-कड्-कड्
कडक रही
शपाएँ भीषण,
चीर रही,
तम-तोमावलि को
चमक-चमक कर
प्रलय-भानु-सी,
बूँदों की बौछार चतुर्दिक

पडती है दिखलाई
चलने लगी
पवन पुरवाई।

उमड चले है
नद मतवाले
छलके ताल तलेया नाले
झरनो के दुकूल गल डाले
पडते हे पवत दिखलाई

नदियाँ यौवन-जल सपूरित
सागर के प्रति है अभिसारित
टिहुक टिटहरी ने
अबर मे,
धरती पर
बगुले, सारस ने,
घुप्प अधेरी रातो मे
झिल्ली, झिगुर ने
सबको गोपित बात बताई
चलने लगी
पवन पुरवाई।



थर-थर काँप रही है देह
शीतल पवन
चल रही सन् सन्
बेध रही है मेरा तन-मन
रवि किरणे

कुहरे से छन-छन
बनी हुई हे
स्वय विदेह
थर-थर कॉप रही है देह।

नभ मे खजन
करते गुजन
शरच्चद्र बना चितरजन
मानिनियो का
कर मान विभजन
बाँट रहा है सहज सनेह।
थर-थर कॉप रही है देह।

गिरिमालाएँ
हिम से मडित, महावृष्टि से,
मार्ग विखडित
मति मेरी हेमत प्रदडित
प्रिय के साथ सनाथ सकल ऋतु,
परित्राण प्राणो का—गेह,
थर-थर कॉप रही है देह।



समय बीतता गया,
रीतती ऋतुएँ।
एक दिवस मुनि को
उद्विग्न देख
बोली प्रम्लोचा

"आज, जब से है उठे
प्रभु लग रहे है खिन्न ?"
"रात मे देखा प्रिये
मैने बडा दु स्वप्न !"

स्वप्न ?
मै भी तो सुनूँ
यदि
हो न वह अति गोप्य।

गोप्य ?
तुमसे हो नही सकता
कभी, कुछ
सत्य हो या स्वप्न।

लो,
सुनाता हूँ
सुनो तुम स्वप्न का वृत्तात

उद्यान था
अदभुत अनूपम
अभिराम औ' रमणीय
और धरती थी
सघन हरिताभ।
सुरम्य था सर,
उस हरितिमा के बीच।
घाट थे जिसके

बडे अभिराम,
नीलमणि की काति-सा
स्वच्छ था जल,
सरोरुह थे खिले उत्फुल्ल।
वदना-रत थे शिलीमुखवृद।

निनादित थी चतुर्दिक
मधुर मधु गुजार।
ओर—
सर मे चल रहा था
हस-युग्मो का प्रणय-व्यापार

देखते दोनो रहे हम
दृश्य वह सोल्लास,
तभी प्रिय तुमने किया
मुझको मधुर सकेत—
"क्यो न हम क्रीडा करे
इन हस-युग्मो बीच?"
और यह क्या।
बन गये हम भी
सुनहले हस।
विचरण सर मे लगे हम
सलिल से तन सींच।

सहसा
उठा ऐसा प्रभजन
अधड विकट विकराल,
अस्तमित रवि हो गया

छा गया तमतोम चारों ओर
गिरने लगे उद्यान मे
टूट तरुवर—ताल और तमाल
और किकियाने लगे पखी-पखेरू!

दृष्टिगत सहसा हुआ,
तब व्याध अति बिकराल
और उसने साधकर
फेका सुनहरा जाल
अन्य तो सब उड गये
फडफडा कर पख
किन्तु
उड पायी नही तुम—
हसिनी अति दीन!

पकड तुमको ले चला
वह व्याध, काल-कराल
मैने बहुत पीछा किया
बोला वचन भी दीन—
"छोड दे इस हसिनी को
मुझसे इसे मत छीन!
प्राण ले मेरे भले तू—
व्याध! निर्दय व्याध!!
किन्तु तू कर दे क्षमा
इसके सभी अपराध!

जब, न माना वह
हुए तब विफल सारे यत्न

मै झपट उस पर पडा—
झपटता ज्यो भक्ष्य पर है बाज,
या कि पापी पर गिरे
जैसे अचानक गाज।

किन्तु यह क्या ?
व्याध से वह बन गया - देवेन्द्र।
और तुम भी बन गई
हसिनी से
अप्सरा अपरूप।
उड गया
लेकर तुम्हे वह
व्योम के उस पार
देखता ही रह गया मै
ठगा-सा लाचार।

सक्षेप मे
दु स्वप्न का
प्रिये। है यही बस सार।

"किन्तु
यह तो स्वप्न है,
इससे हुए क्यो
आर्य इतने खिन्न।

"स्वप्न होते
सुप्त मन, के है सहज व्यापार

जागृति से सुषुप्ति तक के
निरे आधार,
असाध्य
मानस व्याधियो के
स्वप्न है उपचार।

"देह पुर है
मन्त्री मन है
साम्राज्ञी इडा है
प्रजा, सब इन्द्रियाँ साकार
उपरत होते ही प्रजा के
मन्त्रि-मन, देह पुर का अतिक्रमण कर
सूत्र-बँधे शुक-सा
उडता है चतुर्दिक
किन्तु अवलब न पाकर
लौटता है पुन
उसी तन-तरुवर पर।
तब उसे जो बोध होता है—
वही है स्वप्न।

रच लिया करता है
मन का महारथी—
पथ, रथ और अश्व।
राज पथ से विचरता है—
बनकर स्वय सर्वस्व
किन्तु, आँख खुलते ही
ठगा-सा देखता है
न पथ है,

न रथ है,
न रथी है।

निष्कर्षत
यथार्थ जीवन की
क्षति की पूर्ति है स्वप्न,
दमित इच्छा की
सुरक्षा मोरियाँ है स्वप्न
स्वप्न अतर्द्वन्द्व का है
दृश्य-श्रव्य विधान,
अभुक्त मन की वासना का
स्वप्न है सधान।
भूत औ' भवितव्य का
स्वप्न है आभास
भयभीत शवाकुल मनो का
स्वप्न है खग्रास।

स्वप्न मे देखे प्रभु ने
प्रतीव औ' जो बिम्ब,
है शवाकुल हृदय के
वे सभी प्रतिविम्ब।

स्वप्न मे उद्भासित हुआ जो
अद्भुत अनूपम वाग
और जो धरती सघन हरिताभ।
है सुखद दाम्पत्य का ही
यह सहज अनुराग।

वह सरोवर
और वे सरोरुह सविशेष
है हमारे वश की
अभिवृद्धि के सदेश।

और वह झझा
तमस वह
अस्तमित होना तरणि का,
अपहरण उस हसिनी का
और व्याध के वे बिम्ब
आपके
शकाकुल हृदय के
है सहज प्रतिबिंब।

"आर्य रहते है सदा
बस, इसी भय से भीत—
मै चली जाऊँ न सहसा
छोड कर अन्यत्र।
या न हो जाऊँ
किसी भी अन्य पर अनुरक्त।
या न ले जाये कोई
मुझको चुरा चुपचाप,
और यह ही देखते है
स्वप्न मे फिर आप।

मै समर्पित हूँ
समर्पित ही रहूँगी
सदा प्रभु के पास,

होता नही क्यो आपको
मुझ पर तदपि विश्वास।"

"भद्रभाषिणी।
तुमने हर लीं
मेरे मन की सब शकाएँ।
सचमुच
मै कुठित था,
शकाकुल था अतर्मन मेरा।
नई दिशाएँ दी है तुमने
मन को मेरे,
अब मै नव जीवन स्तोत्र का
होऊँगा उद्‌गाता।"





सा त प्राह महाभाग गन्तुमिच्छाम्यह दिवम्
प्रसादसुमुखो ब्रह्मन्ननुज्ञातु त्वमर्हसि ॥७०॥
गच्छ पापे यथाकाम यत्कार्यं तत्त्वया कृतम्।
देव राजस्य मत्क्षोभ कुर्वन्त्या भावचेष्टितै ॥९५॥
न त्वा करोम्यह भस्म क्रोधतीव्रेण वह्निना।
सता साप्तपद मैत्र्यमुषितोऽह त्वया सह ॥९६॥

—ब्रह्मपुराण/१७८ अध्याय

तृतीय सर्ग

प्रत्यभिज्ञान

ताँत पर सूत रखे
काले और सफेद धागो से
दो बूढियाँ
काल-पट बुनती रही।

बारह आरो वाले चक्र को
छह बालक
निरतर घुमाते रहे।

तीन सौ पैसठ गाये
पूँछ उठाकर दौडती रही
उस बछडे की ओर
सवत्सर कहते है जिसे।

पल छिन बीतते गए
रीतते गए
दिन पर दिन,
समय की स्रोतस्विनी
गिरती रही काल गह्वर मे,
आठ सहस्र ऋतुचक्र
हो गये पूरे।

सहसा एक दिन
कर्मसाक्षी दिनमणि को
अस्तमित होते देख
अस्ताचल मे,
जाग उठे महर्षि कडु
मोह निद्रा से
और सबोधित कर
कहने लगे प्रम्लोचा को

"प्रात
सध्या वदन कर
लौटते समय
तुमसे साक्षात्कार हुआ,
देखते ही देखते
चार प्रहर बीत गए
मानो चार क्षण से।

अस्ताचल तक
खींच ले गया
उच्चैःश्रवा

रथ अशुमाली का
लाओ मेरा कमडलु
लाओ वे अर्घ्यपात्र
सध्या का समय
पुन समुपस्थित है
प्रम्लोचा, सुनो।"

सुनती रही
हतप्रभ प्रम्लोचा
महर्षि कडु के वचन
चिर परिचित होते हुए
आज अपरिचित-से लगे वे
आठ सहस्रवर्ष
बिताकर सानिध्य मे
कहते है—
"चार प्रहर बीत गए
मानो चार क्षण-से।"

"देखती हूँ
कजले अगारे
धधकने लगे है सस्कारो के।
प्रत्यभिज्ञान का आलोक
फैला है प्रखरतर,
बाँध रखना सरल है
यक्षो, किन्नरो, देवो, गधर्वों को
किन्तु मनुज को बाँध रखना
अतीव दुस्तर है।

बधा रहता है
युगो तक कभी
प्रणय के क्षीण ततु से वह,
और तोड फेकता है कभी
अटूट बधन क्षण मे।
रूप, रस, गध मे
निमज्जित रहता है कभी
और कभी आत्मजयी बन
निष्काम बन जाता है।

विधाता की
अद्भुत, अपूर्व कृति है
मिट्टी का मानव यह
इसकी थाह कोई भी
कभी भी न ले पाता है।
याद है इसे अभी
सध्या की, वदन की
मानव मे निहित
धन्य प्रभु की प्रभुता है।"

सुख के सहस्रवर्ष
बीतते क्षणार्ध-से
दुख का क्षणार्ध
युग बन जाता है।

डूबती उतराती
विचारो के सागर से
प्रम्लोचा पहुँच गई

तट पर सकल्पो के
छलक उठे अश्रुओ से
नेत्र सोम-चषक से
गद-गद हो उठी गिरा
भावनातिरेक से।

झुक कर श्रद्धासह
ऋषि-चरणो का
स्पर्श किया,
चरण रज से
भूपित किया
मस्तक को माँग को
महर्षि को सबोधित कर
नयन भर निरख कर
कहने लगी प्रम्लोचा
सयत कर शोक को

बीत गए सहस्रो वसत
शरत् हेमत कत,
बीत गए युग अनत
मेरे अभिसार को।
आज तुम्हे भान हुआ
अस्ताचल तक पहुँचा रवि,
आज तुम्हे भान हुआ
शेप याग, यज्ञ, हवि,
आज तुम्हे भान हुआ
शेप सध्या-वदन अभी,
आज तुम्हे भान हुआ

"चार प्रहर बीत गए
मानों चार क्षण से।"

सोये थे अब तक महर्षि
तुम निम मोह निद्रा में,
उससे सत्वारवश
आह! तुम जाग गए।

"लो, यह कमडलु,
सभालो ये अर्घ्यपात्र,
लो मैं लौट चली
पुन इन्द्रलोक को।"



"जाना है तो जाओ
पथ प्रशस्त पडा है
और, रुके है क्या
जाने वाले रोके से?
किन्तु मृषा मत कहो
छलो मत मुझको।

क्या तुम नहीं मिली थीं
मुझको प्रात सध्या वदन की वेला मे?
चार प्रहर ही तो बीते है
उस अभिशापित -
अभी अभी ही !!
घडा, हटा पहुँ

"चार प्रहर बीत गए
मानों चार क्षण से!"

सोये थे अब तक महर्षि
तुम जिस मोह निद्रा में,
उससे संस्कारवश
आह! तुम जाग गए!

"लो, यह कमंडलु,
संभालो ये अर्घ्यपात्र,
लो मैं लौट चली
पुनः इन्द्रलोक को!"



"जाना है तो जाओ
पथ प्रशस्त पड़ा है
और, रुके है क्या
जाने वाले रोके से?
किन्तु मृषा मत कहो
छलो मत मुझको।

क्या तुम नहीं मिली थी
मुझको प्रातः संध्या वंदन की बेला में?
चार प्रहर ही तो बीते है
उस अभिशापित क्षण को।
अभी अभी ही दिनमणि
चढ़ा, ढला पहुँचा है

दिन तो मैंने गिने नहीं
दिन गिनती है नारी वियोग में,
मिलन-मुहूर्तों में तो
मधु ऋतुएँ ही
याद रहा करती हैं।
इसीलिए
जब-जब ये ऋतुचक्र बदलते
सुरतरु का अम्लान पुष्प
दे जाती थीं मुझको अप्सरियाँ,
मेरी सखियाँ।
उन स्मृति-चिह्नों को, सुमनों को
गूँथा है माला में मैंने।
गिनना चाहें तो प्रभु गिन लें
आठ सहस्र पुष्पचय की हैं
मालाएँ ये मेरी।"

"सर्वनाश।
तो क्या
आठ सहस्र वर्ष तक
सम्मोहित था मैं?
स्नान, ध्यान, संध्या, वंदन,
स्वाध्याय आदि से
विरत रहा मैं—
इस सुदीर्घ कालावधि में।
तो क्या काम-विमोहित था मैं?
विवेक था अपहृत मेरा
इस सीमा तक?
साँझ-प्रात दिन-रात
पक्ष पर पक्ष, मास पर मास

तो निश्चय ही शीश चढ़ाता
मैं इस सम्मोहन, इस सुषुप्ति को!
न्योछावर करता, तप भी
विभूतियाँ तुम पर!

किन्तु, देखता हूँ
तुम तो हो निर्विकार, निर्लिप्त!
उद्यत हो, कार्य संपादित कर
लौट जाने को सुरपुर में।
यह कुचक्र है,
दुरभिसंधि है,
छला गया हूँ निश्चय ही मैं।

जाना है तो जाओ
नहीं रोकूँगा तुमको
बस, इतना बतलाती जाओ
तुमने मुझे छला
या कि छलवाया है सहस्राक्ष ने?"

"तो लो सुनो—
पूछते ही हो तो अकथ्य
हृद्गत भावों को
देती हूँ मैं वाणी

यह सच है
मैं भेजी गई
स्वयं नहीं आई थी मैं

किन्तु प्रणय की रिमझिम में भी
नारी गल जाती है।
रख सकती न बचाकर
निज हित, कुछ भी तो वेचारी!

नारी वरती है,
जब नर को, वरती है—
निःशेष और निर्व्याज भाव से,
कैतवरहित समर्पण
होता है उसका
किन्तु पढ़ता ही नहीं
समर्पण-पृष्ठ, कभी नर
नारी की आत्मकथा का,
उपसंहारों के ही वह
पलटा करता है पन्ने
यह ही तो नारी की आत्मव्यथा है।
यह ही है लाचारी।"

"मैंने तो समझा था
नारी है कल्याणी
किन्तु नहीं—
वह तो छलना है,
केवल छलना।

जैसे ही नर
अपने तप-तेज, वीर्य-विक्रम से
धरती से उठता है ऊपर,
वैसे ही ग्रस लेती

किन्तु प्रणय की रिमझिम में भी
नारी गल जाती है।
रख सकती न बचाकर
निज हित, कुछ भी तो बेचारी!

नारी वरती है,
जब नर को, वरती है—
निश्शेष और निर्व्याज भाव से,
कैतवरहित समर्पण
होता है उसका
किन्तु पढ़ता ही नहीं
समर्पण-पृष्ठ, कभी नर
नारी की आत्मकथा का,
उपसंहारों के ही वह
पलटा करता है पन्ने
यह ही तो नारी की आत्मव्यथा है!
यह ही है लाचारी!"

"मैंने तो समझा था
नारी है कल्याणी
किन्तु नहीं—
वह तो छलना है,
केवल छलना!

जैसे ही नर
अपने तप-तेज, वीर्य-विक्रम से
धरती से उठता है ऊपर,
वैसे ही ग्रस लेती

किन्तु प्रणय की रिमझिम में भी
नारी गल जाती है।
रख सकती न बचाकर
निज हित, कुछ भी तो बेचारी!

नारी वरती है,
जब नर को, वरती है—
निश्शेष और निर्व्याज भाव से,
कैतवरहित समर्पण
होता है उसका
किन्तु पढ़ता ही नहीं
समर्पण-पृष्ठ, कभी नर
नारी की आत्मकथा का,
उपसंहारों के ही वह
पलटा करता है पन्ने
यह ही तो नारी की आत्मव्यथा है।
यह ही है लाचारी।"

"मैंने तो समझा था
नारी है कल्याणी
किन्तु नहीं—
वह तो छलना है,
केवल छलना।

जैसे ही नर
अपने तप-तेज, वीर्य-विक्रम से
धरती से उठता है ऊपर,
वैसे ही ग्रस लेती

त्रिवाचा बोध
कामिनी है फंदा है
नरों को फँसाने का,
उसके स्मरण से संताप,
दर्शन से उन्माद,
स्पर्श से मोह, और—
कटाक्ष से अपहृत होता है विवेक,
अत: श्रेयार्थियों के लिए
उसे तजना ही श्रेयस्कर है।

धिक है तुम्हें।
जिसने भरमाया
मुझ तपसी को
और कर दिया वंचित
लोक-परलोक उभय से।"

"धिक है,
सचमुच ही धिक मुझको।
इसलिए नहीं कि
मैंने भरमाया है तुमको
किन्तु इसलिए कि
जो अकथनीय है
गुह्यातिगुह्य है
नारी के उस गोपन को
देती हूँ मैं वाणी—

तुम जो चाहे समझो
चाहा है मैंने तो तुमको

ले नौका श्रद्धा की
और
पकड़ पतवार प्रेम का
आते मझधारों में।

किन्तु नहीं
तुम थे तटस्थ!
तटस्थ भी कभी
प्रेम करते हैं?

मैं तो
परसी थाली-सी
सम्मुख धरी रही,
तुम्हीं
पथ्यरत रोगी-से
मुझे न चख तक पाये।

मुझे दोष मत दो
दोष देना है तो दो
उस कुत्सित कुंठा को,
जो हवि-सा
नित रही होमती
तुमको
उस प्रज्वलित ज्वाला में!"

"कुत्सित कुंठा किसकी?
मेरी या उसकी—

बाह्य रूप
अभिशाप हुआ करता है जग में।"

छिन्न-भिन्न हो गया,
खड खड हो गया।

अहर्निश जगता था
पचाग्नि तपता था,
कौन सी तन्द्रा थी
जिसमे मै सो गया?

सान्त से अनन्त का
सार्थवाह सत्त का,
कौन सा प्रवाह था—
जो उसे डुबो गया?

मनुजो मे अजर था
मर्त्यों मे अमर था,
क्या था मै, औ' आज—
क्या से क्या हो गया?

जग्जामिनी जाय रे
हाय हत हाय रे
नियति के आगे नर
कितना निरुपाय रे।

दर्पण सा दरक कर
माला सा बिखर कर
छिन्न भिन्न हो गया—
खड-खड हो गया।

किं अधिकम्
धिक है उसे
धिक है तुझे
धिक है मुझे
धिक है, धिक है
कुटिल कामी नरो को
रूपजीविनी नारियो को भी।"



"तो लो,
मै यह चली
किन्तु, सुनो! जाते जाते
इतना कहती जाती हूँ
तुमसे जो है मिला
तुम्हे देती जाती हूँ।

यह "मारीषा"!
फल है यह—
उस प्रणय-बल्लि का
जिसे कभी
हमने-तुमने मिलकर सींचा था।
इसे तुम्हारा ज्ञान।

मेरा रूप मिलेगा।
पाले-पोसेगी इसको वाराजी
और क्षपाकर इसके रक्षक होंगे।
होकर बड़ी—
प्रचेताओं को ब्याही जाकर
अपनी दुहिता
नयी सृष्टि की
नवजननी होगी।

और सुनो।
अपने पर मत ग्लानि करो,
यूं धिक्कारो मत
निज को।
जो कुछ हुआ, सहज था
देह-धर्म था।
आखिर तुम मानव थे
देव नही थे तुम।

एकाकी साधना
इष्ट नही थी तुमको
बनना था तुमको निमित्त
इस नई सृष्टि का।

विधि-विधान से
कर्म, ज्ञान, इच्छादि गुणो का
तिरोभाव था हुआ।
आविर्भाव
हो गया है अब

उन सभी गुणो का
सस्कारोदय से।

जैसे—
कजलाये अगारो मे
बच जाये यदि कहीं कोई चिनगारी
और आ गिरे दैव योग से
घूर्णियाँ घास की उस पर
तो वह चिनगारी
धधक उठती है
ज्वाला बनकर

वैसे ही—
विषय-वासना से
कजलाई दिव्य देह में
सस्कारो की कोई
चिनगारी
शेष बची थी,
अस्ताचलगामी सहस्राशु
को देख—
तुम नही चेते
चेती थी वही चिनगारी।
धधक उठे है उससे ही
चिर सचित सस्कार तुम्हारे,
स्व स्वरूप का बोध—
प्रत्यभिज्ञान
हो गया है अब तुमको।

अधिक क्या कहूँ
ज्ञानी हो तुम,
आत्मा रथी है
रथ है शरीर,
सारथी है बुद्धि
इन्द्रियो के घोडे है
जो मन की वल्गाओ
के वशवर्ती है
ढील पाते ही वे
सरपट दौडते है
विषयो के गोचर मे
रथ मे बैठा रथी
मन और इन्द्रियो के सहारे
यह सब देखता है, भोगता है—
'धर्मार्थकाम सममेव सेव्य'
ही राजमार्ग है पुरुषार्थ का।

ज्ञानी हो
आत्मज्ञान हो गया
जब तुमको
महारथी।
बैठे हो फिर क्यो
आँखे मीचे
कहो सारथी से
मन की वल्गाएँ खीचे।

छिन्न करो
अब अपनी
सब कुठाएँ
उन्मुक्त करो

अतर के रुद्ध द्वार।
व्यष्टि-साधना छोड
समष्टि हित तपो तपस्वी।

इस पतित पावनी नदी
गौतमी गगा के तट पर
बहु जन सुखाय
बहु जन हिताय
के मूल मत्र को
जपो तपस्वी।

यह वसुधा है
एक नीड
पँखेरू है सब इसके,
सबसे
हिलमिल रहो
धरा को स्वर्ग बनाओ
'वसुधैव कुटुबकम्' के
बीज मत्र को जपो तपस्वी।

हे सस्कृति-सेतु।
हे भगीरथ नव ससृति के।
आँख उठाकर तो देखो
तुम किस महाद्वीप
किस महाराष्ट्र के अधिनायक हो।

यह जबुद्वीप
यह आर्यावर्त
यह भरत खड
अप्रतिम है, इस धरती पर।

इसके मस्तक पर हिम मुकुट
कटि मे सरिता की कर्धनियाँ है।
विध्याचल है वक्ष
घाट दक्षिण के दोनो
चरण युगल है,
प्राची और प्रतीची है
जिसकी प्रलव भुजाएँ।
करता जिसका
पद-प्रक्षालन नित रत्नाकर है।
सूर्य-चद्र करते जिसका
वदन-अभिनन्दन
हे अभिषेक पुरुष।
तुम, उस महाराष्ट्र के अधिनायक हो।

उठो
प्रवृत्त हो पुन
सृष्टि के सचालन में।

नमन
कोटिश नमन
तुम्हारे पद-पद्मों में।
तब थे तुम
केवल पुरुष,
पूर्ण पुरुष,
पुरुषोत्तम हो अब।"
●●

पार पर विष्णुरपारपार , पर परेभ्य परमात्मरूप
स ब्रह्मपार परपारभूत , पर पराणामपि पारपार
ब्रह्माक्षरमज नित्य यथाऽसौ पुरुपोत्तम
तथा रागदयो दोपा प्रयान्तु प्रशम मम ॥११८॥

ब्रह्मपार मन्त्र/ ब्रन्यपुराण/ १७८ अध्याय